सिंघम या तारे जमीन पर?

मीडिया से सामान्यत: समाचारपत्र-पत्रिकाएं ही याद आती हैं। बहुत हुआ तो इंटरनेट या ऑनलाइन मीडिया और उसमें भी सोशल मीडिया तक पहुँच पाते हैं। फिल्म अब मीडिया के रूप में उस तरह से याद नहीं आती है जिस तरह से दो दशक या उससे पहले याद आ जाती थी। संभवत: इसका एक कारण तो यह है कि फिल्म को संगीत की तरह मनोरंजन के खाते में डाल दिया गया है। मीडिया को समसामयिक जानकारी और विचार का स्रोत माना जाता है और इसी मायने में उससे रोजाना सब रूबरू होते हैं। विचार, संवेदना और मनोरंजन का समवेत रूप साहित्य भी फिल्म की तरह ही समसामयिकता के संदर्भ में हाशिये पर है। एक समय था जब साहित्य को समाज का दर्पण माना और कहा जाता था। यह प्रेमचंद्र ही नहीं उस समय के अन्य साहित्यकारों ने समाज को अपने विचार-पट खोलने और नई ताजी हवाओं को प्रवेश देकर वातावरण को बदलने का काम किया है, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता है। वाम, दक्षिण, पूंजीवादी या आदर्शवादी आदि जो भी विचारधाराएँ लोगों के बीच आईं और उन पर विमर्श हुए उनका आधार यही साहित्य की परम्परा रही है।

सब जानते हैं कि साहित्य ने न केवल संवेदना तथा भावनात्मकता का विकास किया है वरन समाज के परिवर्तन के लिए भी प्रेरित किया है। ऐसे ही फिल्मों ने समाज की रूढ़ियों और आस्था-विश्वासों को बदलने और समय के साथ समाज के लोगों का दृष्टिकोण तथा व्यवहार बदलने में बड़ा काम किया है। यह विवादास्पद हो सकता है पर सच यह है कि चेतन भगत का उपन्यास पहले आया था और उस पर या उससे प्रेरित फिल्म बाद में बनी जिसने लोगों के दृष्टिकोण को बदलने में बड़ी भूमिका निभाई। आरक्षण किसी उपन्यास या कहानी से प्रेरित तो नहीं कही जा सकती है, पर शिक्षा के व्यवसायीकरण तथा कोचिंग को व्यवसाय बनाने पर केन्द्रित है जिसने लोगों में वह सच सामने लाने की कोशिश की जो मुख्य धारा का मीडिया लाने से चूका है। यह भी कह सकते हैं कि विज्ञापन-लाभ के लिए, इरादतन उस तरफ से उसने आंख फेरकर रखी।

प्रकाश झा की बहुत सी फिल्में हैं जिनमें उन्होंने समाज की उन बुराइयों का सच सामने लाने की कोशिश की है जो उतने दमदार ढंग से सूचना केन्द्रित मीडिया नहीं ला सका। यह तो कह सकते हैं कि उस सूचना व घटनाओं को मीडिया ने समाचार के रूप में तो दिया था पर वह विश्लेषण और अंतरकथाएं सामने नहीं आ सकीं जो लोगों को जागरूक करने के साथ ही उत्प्रेरित करती। पचास से

अधिक वर्षों तक सिनेमा वयस्कों के बीच पनपते प्रेम और उसके सफल होने के संघर्ष को अपने ऊपर लगने वाले आरोपों के बावजूद उठाता रहा है और आज सब यह जानते हैं कि वह प्रसंग और घटनायें किस तरह से सामान्य होती जा रहीं हैं। इस संबंध में बहुतेरी फिल्मों के संदर्भ और उदाहरण दिये जा सकते हैं।

फिल्मों पर अपसंस्कृति को विकसित और विस्तारित करने के भी आक्षेप हैं। ऐसे ही साहित्य पर आम व्यक्ति से दूर होने, उसकी समझ के साथ कदमताल न कर पाने और विचारों के तम्बुओं को तानकर अपनी रागों के मोह में फंसे रहने के भी आक्षेप और आरोप हैं। यहां वह सब विमर्श करने का और उसकी कारण-मीमांसा करने का मेरा इरादा नहीं है। दबंग और उसकी अगली कड़ी, सिंघम और सिंघम रिटर्न, नायक तथा ऐसी ही अन्य फिल्मों को लेकर विचार-विमर्श करना मकसद है।

ये फिल्में पिछले एक दशक या उससे कुछ पहले से बनी उन फिल्मों में शामिल हैं जिनमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के हल प्रस्तुत किये गये हैं। इन सभी फिल्मों में नायक ऐसा शूरवीर है कि मौत भी उससे हार जाती है। वह नियम-कायदे सब तोड़कर समस्या का हल करने निकल पड़ता है। उसकी गति इतनी तेज होती है जिसको सामान्यत: असम्भव शब्द भी कम पड़ता है। नायक फिल्म में तो एक दिन में ही पूरी तब्दीली हो जाती है और उसे इस बीच अपनी प्रेमिका से प्रेमालाप का भी समय मिल जाता है। सरकार सिर्फ सड़क पर काम करती है। बाबू का टाइपराइटर और नायक का करतब सब काम करता हुआ दिखाई देता है। दबंग और सिंघम में तो पुलिस एक तरह से क्रांति करती हुई दिखाई देती है। एक तरफ भ्रष्ट हो जाने की और दूसरी तरफ समस्या के समाधान की। ये फिल्में तो एक तरह से प्रतीक हैं। एक तरह से देखें तो यह पूरा दशक या उससे अधिक समय से मारधाड़ और उसकी अतिरेक फंतासी के माध्यम से लोगों को सुकून और समाधान देने के कोशिश की गई है।

यह सोचने और विचार करने की बात है कि क्या इस तरह के समाधान के साथ लोगों में हिंसा ही एकमात्र समस्या का हल है, अतिरेकी स्थितियों से ही समस्याएं हल की जा सकेंगी, और इस तरह का असामान्य नायक और उसकी देवोपम प्रतिभा तथा शक्ति ही समस्या का एकमात्र हल है।

क्या ऐसा बताते हुए हम बच्चों को बचपन में सुनाई जा रही कहानियों और फंतासियों की तरफ नहीं मोड़ रहे हैं। क्या हम ऐसा करते हुए लोगों को उनके सोचने, समझने और अपने आत्मबल को कमजोर करने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। क्या यह सच नहीं है कि मनोरंजन के बहाने पैसे कूटने के लिए इस तरह से पूरे समाज को लाचार और अकर्मण्य करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है। यह इसलिए कि ये वे फिल्में हैं जिनको दर्शकों की सराहना भी मिली और बाक्स आफिस ने इनकी झोली में लागत से ज्यादा धन थाड़े ही समय में दे दिया। आरक्षण की तरह एक सामान्य किन्तु प्रतिभाशाली

और आत्मबल से सम्पन्न शिक्षक को लोकशक्ति के सहारे, अहिंसा को हिंसा के सामने खड़ा करते हुए विजय प्राप्त करते हुए दिखाना नायकत्व का आदर्श नहीं बनाया जा सकता है। इस संदर्भ में हम उन फिल्मों को भी याद कर सकते हैं जिसमें एक सामान्य व्यक्ति को प्रशासन, अंडरवर्ल्ड और अकूत हिंसा के सामने युक्ति, संयम, मूल्य और लोक जागरण तथा लोक शक्ति से विजयी होता हुआ दिखा चुके हैं। एक लोकतांत्रिक समाज में व्यक्ति को केजरीवाल, अन्ना हजारे या नरेन्द्र मोदी की तरह समझ और विचारों की साझेदारी के साथ विजयी होने के तथ्य का फिल्मीकरण नहीं कर सकते हैं। इस संबंध में फिल्म निर्माता, निर्देशकों के साथ ही दर्शकों और फिल्मों को बाक्स आफिस पर हिट करने वाले मीडिया को एक बार बहुत संजीदा होकर विचार करना जरूरी है। यह सोचना पड़ेगा कि आप गांधी, जयप्रकाश, मार्टिन लूथर के मार्ग को जनजीवन के विचार का अंग बनाना चाहते हैं या लादेन इत्यादि के हिंसक मार्ग को ही सफलता का पर्याय मानते और बताने के पक्षधर हैं।

****